नागरिक इतने 'अवांछनीय' क्यों हो गये हैं?

कृष्ण प्रताप सिंह

दिल्ली-एनसीआर में दमघोंटू प्रदूषण के मामले पर सुनवाई करते हुए उच्चतम न्यायालय ने गत दिनों जिस तरह नौकरशाहों को फटकारा और पूछा कि अगर सब कुछ न्यायालय को ही करना है तो भला वे किसलिए हैं, वह सच पूछिये तो नौकरशाहों से ज्यादा सरकारों के खिलाफ टिप्पणी है। क्योंकि कुछ निरंकुश अपवादों को छोड़ दें तो नौकरशाह आम तौर पर सरकारों द्वारा बनाई गई नीतियों व निर्देशों के मुताबिक और उन्हीं के इंगित पर ही काम करते हैं। वे किसी मामले में फैसलों का अनुपालन न करने या जरूरी फैसलों से बचने के लिए स्वतंत्र हैं तो यह उन पर सम्बन्धित सरकारों की अनुकम्पा का ही प्रतिफल है।

इस लिहाज से देखें तो यह अकारण नहीं है कि सरकारों ने दिल्ली-एनसीआर के निवासियों को शुद्ध हवा व पानी का मोहताज बनाकर भी उन्होंने 'रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ' वाली कार्य शैली अपना रखी है। दरअसल, 24 जुलाई, 1991 को पी वी नरसिंह राव के प्रधानमंत्रीकाल में देश पर थोपी गई भूमंडलीकरण की जनविरोधी नीतियां जैसे-जैसे अपने असली रंग में आ रही हैं, निवेशक सरकारों की प्राथमिकताओं में ऊपर और नागरिक नीचे होते जा रहे हैं। अब तो दोनों के बीच की खाई इतनी बढ़ गई है कि सरकारें न सिर्फ निर्लज्ज होकर निवेशकों का नागरिकों की छाती पर मूंग दलना देख रहीं बल्कि नागरिकों के अधिकारों को प्राप्त संवैधानिक गारंटियों से खिलवाड़ के लिए मनोनुकूल नये सिद्धांत भी गढ़ ले रही है।

वे ऐसा नहीं करतीं तो राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजित डोभाल और डिफेंस स्टाफ प्रमुख जनरल बिपिन रावत की मजाल नहीं थी कि वे अपने बयानों में 'व्यापक राष्ट्रहित' और 'कानून के शासन' के नाम पर उनके उल्लंघन को ही जायज ठहराने की कोशिश करने लग जाते।

गौरतलब है कि अजित डोभाल ने पिछले दिनों प्रशिक्षु पुलिस अधिकारियों को सम्बोधित करते हुए सिविल सोसाइटी यानी नागरिक समाज को इस बिना पर 'युद्ध का चौथा मोर्चा' बता डाला कि किसी शत्रु के लिए परंपरागत युद्ध खर्चीला और कम कारगर हो सकता है और उसके द्वारा 'राष्ट्रहित को नुकसान पहुंचाने के लिए

सिविल सोसाइटी को भ्रष्ट किया, अधीन बनाया, बांटा और अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है'। फिर उन्होंने कथित तौर पर सिविल सोसाइटी में छिपे शत्रु देशों के गुप्त मददगारों/गद्दारों की पहचान और उनके खिलाफ कार्रवाई के लिए नागरिकों की पुलिस चौकसी को ही जरूरी नहीं बताया, लोकतंत्र की नई परिभाषा में मतदाताओं/नागरिकों को दरकिनार पर निर्वाचित नुमाइंदों को वैसी ही तरजीह की वकालत की, जैसी आजकल नागरिकों पर निवेशकों को दी जा रही है।

उनसे एक दिन पहले जनरल विपिन रावत ने एक चैनल के कार्यक्रम में सार्वजनिक तौर पर बिना किसी तथ्य के इस बात पर प्रसन्नता जाहिर की थी कि कैसे जम्मू-कश्मीर की एक बड़ी आबादी 'आतंकवादियों को लिंच करने' के लिए तैयार है और कैसे मवेशी चोरों जैसे घुसपैठियों के खिलाफ गांवों की 'आत्मरक्षा' की कार्रवाई पूरे भारत में जीवन की हकीकत है, जिसमें गांव वाले हत्याएं तक कर देते हैं।

इन दोनों के कथनों को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा पिछले महीने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के एक कार्यक्रम में जताई गई इस 'चिन्ता' से जोड़कर देख लें कि 'कुछ लोग कुछ घटनाओं में मानवाधिकार के उल्लंघन देखते हैं, लेकिन कुछ में नहीं' तो यह साफ होने में कसर नहीं रह जाती कि नागरिक अधिकारों को लेकर कैसे नये सिद्धांत गढ़े जा रहे हैं। इन सिद्धांतों की एक झलक त्रिपुरा में मुस्लिम विरोधी हिंसा के तथ्य एकत्र कर रहे वकीलों व पत्रकारों पर पुलिस द्वारा लगाये गये गंभीर आपराधिक आरोपों में भी देखी जा सकती है।

लेकिन सच पूछिये तो बात अब इतनी-सी ही नहीं रह गई है। अब जीवन के दूसरे, यहां तक कि भूख और कुपोषण के मोर्चे पर भी नागरिक सरकारों के सौतेलेपन से नहीं बच पा रहे। उच्चतम न्यायालय को केन्द्र सरकार तक को याद दिलाना पड़ रहा है कि किसी कल्याणकारी सरकार की पहली जिम्मेदारी भूख से मर रहे लोगों को भोजन उपलब्ध कराना है। फिलहाल, किसी से छिपा नहीं कि भुखमरी के मोर्चे पर सरकारों की तसावली के चलते वैश्विक भूख सूचकांक में भारत की स्थिति अपने पड़ोसी देशों से भी बुरी हो गई है। फिर भी सामुदायिक रसोई योजना लागू करने के लिए अखिल भारतीय नीति बनाने में केंद्र सरकार की दिलचस्पी अपने न्यूनतम स्तर पर है और उच्चतम न्यायालय को उसे 'अंतिम चेतावनी' देते हुए गहरी अप्रसन्नता के साथ कहना पड़ता है कि उसे उसके योजना को लागू करने के इरादे पर ही संदेह है।

लेकिन विडम्बना देखिये कि लगभग उसी समय, जब न्यायालय इस तरह केन्द्र सरकार को आईना दिखा रहा था, मध्य प्रदेश सरकार यह अधिसूचना जारी कर नागरिकों के प्रति नयी बेदिली के साथ सामने आ रही थी कि जिन्होंने कोरोना टीका नहीं लगवाया है, उन्हें सब्सिडी वाला मुफ्त राशन नहीं दिया जायेगा। इस अधिसूचना में कहा गया है कि राशन पाने के लिए राशनकार्ड धारकों का कोरोना के टीकों की दोनों खुराक लगवाना अनिवार्य है और राशन विक्रेता की ज़िम्मेदारी है कि वह जांच करे कि राशनकार्ड धारक ने ऐसा किया है या नहीं। यह सुनिश्चित करना भी राशन विक्रेता की ही जिम्मेदारी है कि ऐसे लोगों को राशन उपलब्ध नहीं कराया जाए।

कोई नहीं कहता कि नागरिकों को कोरोना के टीके नहीं लगवाने चाहिए, लेकिन किसी कारण वे नहीं लगवा पाये हैं या इस बाबत किन्हीं भ्रमों के शिकार होकर अनिच्छुक हो गये हैं तो क्या हम ऐसी तानाशाही में रह रहे हैं कि सरकारें उन्हें समझाने-बुझाने या जागरूक करने के बजाय सीधे राशन रोककर उन्हें भूखों मारने लगें? क्या यह उनके मौलिक अधिकार का हनन नहीं है? टीके के लिए सख्ती की भला यह कैसी शुरूआत है, जो सीधे उनके पेट भरने के सवाल से जा जुड़ती है? सख्ती बरतनी ही थी तो क्या इसकी शुरूआत रेलों में रिजर्वेशन, हवाई टिकटों की बुकिंग, बैंक में खाता खोलने या स्कूलों में बच्चे के प्रवेश आदि रोजमर्रा के सारे कामों के लिए आधार की तरह टीकाकरण का प्रमाणपत्र अनिवार्य करके नहीं की जा सकती थी?

स्वाभाविक ही जानकार पूछने लगे हैं कि सरकारों का भी नागरिकों के प्रति कोई दायित्व है या नहीं? अगर है तो मध्य प्रदेश सरकार टीकाकरण के लिए राशन रोकने के बजाय उन्हें जागरूक करने का रास्ता क्यों नहीं चुनती? क्या उसे याद नहीं कि राशनकार्ड को आधार से लिंक करना अनिवार्य कर इसके बगैर राशन देना बन्द कर दिया गया, तो झारखंड समेत कई राज्यों में जरूरतमंदों की भूख से मौतों की कैसी-कैसी दर्दनाक खबरें आई थीं? इस सिलसिले में पूछा जा सकता है कि क्या यह नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन नहीं कि कोरोना के दौरान अस्पतालों, डॉक्टरों, इलाज की सुविधाओं, उपकरणों और आक्सीजन वगैरह के अभाव से पीड़ित करने के बाद वह टीकाकरण के नाम पर उनका राशन तक रोक देने पर क्यों तुल गई हैं? पूर्ववर्ती सरकारों ने तो ऐसा चेचक और पोलियो के टीकाकरण के दौर में भी नहीं किया।

अब, उच्चतम न्यायालय द्वारा पूछे गये सवाल को एक बार फिर याद करें कि अगर सब कुछ न्यायालय को ही करना है तो भला नौकरशाह या सरकारें किसलिए हैं, तो जवाब में यह भी कह सकते हैं कि वे हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं हैं। अपने हितों की साधना में वे कुछ भी उठा नहीं रख रहीं और सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि उन्होंने अपने हितों को नागरिकों के अधिकारों का विलोम बना डाला है।

संदर्भवश यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि अफसरशाही एवं सरकारे कोई भी काम बिना अदालती आदेश के इसलिये नहीं करती क्योंकि अदालतें खुद नहीं चाहती कि वे ऐसा करें। यदि अदालत अफसरशाही की जाहिली एवं हरामखोरी का संज्ञान लेकर उन्हें जेल भेजने की बजाय केवल काम को निपटाने का निवेदन करती है तो वे काम क्यों करने लगे।

अकेले किन्नर ने झुका दी पूरी सरकार!

जेके सिंह

पल्लवी चक्रवर्ती कोलकाता में किन्नरों के संघर्ष की एक प्रतीक बन गई हैं। कोलकाता पुलिस में दरोगा के पद पर उनकी नियुक्ति हो पाएगी या नहीं यह तो नहीं मालूम पर इस प्रक्रिया में किन्नरों को भी शामिल करने में उन्हें सफलता मिली है। राज्य सरकार ने परीक्षा के आवेदन पत्र के मजमून को बदला है। अब उसमें पुरुष और महिला के साथ ही थर्ड जेंडर का कॉलम भी होगा।

पल्लवी की इस संघर्ष की झंडाबरदार एडवोकेट जवेरिया शब्बाह बताती हैं कि कोलकाता पुलिस में दरोगा पद पर भर्ती के लिए होने वाले इम्तहान का एक विज्ञापन निकला था। पल्लवी ने इस परीक्षा में बैठने का मन बना लिया, लेकिन जब उसने आवेदन पत्र डाउनलोड किया तो उसमें सिर्फ दो ही कॉलम थे एक पुरुष और दूसरा महिला। लिहाजा वह आवेदन पत्र नहीं भर पा रही थीं। एडवोकेट जोवेरिया शब्बाह ने उनकी तरफ से हाई कोर्ट में रिट दायर कर दी। एडवोकेट शब्बाह ने 2014 के ट्रांसजेंडर कानून और सुप्रीम कोर्ट के फैसले का हवाला देते हुए पुरजोर बहस की। हाई कोर्ट ने राज्य सरकार की तरफ से बहस कर रहे एडवोकेट से कहा कि इस मामले में राज्य सरकार का नजरिया पेश करें।

अगली तारीख को राज्य सरकार के एडवोकेट ने हाई कोर्ट को जानकारी दी कि राज्य सरकार आवेदन पत्र के प्रारूप

में पुरुष और महिला के साथ ही ट्रांसजेंडर कॉलम रखने के लिए तैयार हो गई है। इसके बाद जस्टिस अरिंदम मुखर्जी ने कहा कि पिटीशनर की समस्या का निदान हो गया है इसलिए इस मामले का निपटारा किया जाता है। अब पल्लवी दरोगा बने या ना बने उसने एक खिड़की को तो खोल ही दिया है। पल्लवी बताती हैं कि वह कोलकाता पुलिस में सिविक पुलिस का काम करती हैं। जब दरोगा पद के लिए विज्ञापन निकला उन्होंने भी दरोगा के लिए आवेदन करने का मन बना लिया। वह कहती हैं कि वह स्नातक हैं और जब शैक्षिक योग्यता है तो फिर भला क्यों नहीं आवेदन करेंगी। पर मुश्किल जेंडर को लेकर था और इसलिए उन्होंने हाईकोर्ट का दरवाजा खटखटाया था। एडवोकेट जोवेरिया शब्बाह बताती हैं कि पल्लवी का लड़ने का यह जज्बा उन्हें भा गया और उन्होंने उस के पक्ष में मुकदमा करने का फैसला ले लिया। एडवोकेट शब्बाह कहती हैं उन्होंने इसके लिए कोई फीस नहीं ली। मुकदमा जम कर लड़ा और राज्य सरकार ने हाईकोर्ट से कह दिया उन्होंने आवेदन फार्म में तीसरा जेंडर का कॉलम रखने का फैसला ले लिया है। इस तरह हाई कोर्ट की राय उनके पक्ष में आ गई और आगे की राह खुल गई।

यहां अगर मानवी बंद्योपाध्याय का जिक्र ना करें, किन्नरों के लिए संघर्ष के मामले में पल्लवी की कहानी अधूरी रह जाएगी। मानवी भी एक किन्नर हैं और कृष्णानगर वीमेंस कॉलेज में प्रिंसिपल हैं।

उन्हें भी इस मुकाम तक पहुंचने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा था, अब यह बात दीगर है कि उन्हें लिंग भेद की समस्या से नहीं जूझना पड़ा था। पल्लवी का थर्ड जेंडर कॉलम के लिए संघर्ष की यह कहानी भगवान राम से जुड़ी यह गाथा की याद दिला देती है। भगवान राम जब वनवास पर जा रहे थे तो अयोध्यावासी उन्हें विदा करने आए थे। उनमें किन्नर भी शामिल थे। भगवान राम ने जाते समय पुरुषों और महिलाओं से कहा था वे अपने घर लौट जाएं। भगवान राम जब वन से लौट कर आए तो उन्हें किन्नर वहीं खड़े मिले। भगवान राम ने जब इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि आपने तो पुरुषों और महिलाओं से लौट जाने को कहा था हमें तो नहीं कहा था।

आज तक भगवान राम ने किन्नरों की इस तपस्या से प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि वे जिसे भी दुआ देंगे वह फलेगा फूलेगा। भगवान राम ने किन्नरों को दुआ देने की ताकत दी तो पल्लवी और शब्बाह ने किन्नरों को कोलकाता पुलिस में स्थान पाने की एक राह आसान कर दी। त्रेता युग में भी किन्नरों का जिक्र आता है पर उस समय उन्हें हिकारत की निगाह से नहीं बल्कि सम्मान के साथ देखा जाता था। उन्हें विवाह या जन्म जैसे समारोह में आमंत्रित किया जाता था। वैदिक युग में उन्हें तृतीय लिंग कहा जाता था। आज तक जब अंग्रेजों की सत्ता आई उन्होंने किन्नरों को आपराधिक समूह के दर्जे में डाल दिया। इसके बाद से उनकी सामाजिक स्थिति की अवनति होती गई। देश आजाद होने के बाद भी उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। आज के दौर में उनके पास जीने का बस एक ही साधन है।

ट्रेनों, बसों या सड़क पर लोगों के सर पर हाथ फेरते हुए दुआ देते हैं और पैसे मांगते हैं। बद्दुआ का खौफ कुछ लोगों को पैसे देने के लिए मजबूर करता है पर यह उनकी समस्या का हल नहीं है।

किन्नर के रूप में जन्म लेने के लिए वे कसूरवार तो नहीं हैं। इस देश की डेढ़ सौ करोड़ की आबादी में कुछ करोड़ के किन्नर होंगे ही, क्या उन्हें इस हाल पर ही छोड़ दिया जाए। क्या उनके कल्याण के लिए कोई योजना नहीं बनाई जा सकती है। यह अधिकार तो सरकार के पास है। लिहाजा इसका जवाब भी सरकार के पास है। कानून तो है पर इससे क्या फर्क पड़ता है। इससे उनकी तकदीर नहीं बदलती है इसके लिए लोगों को अपनी सोच बदलनी पड़ेगी।